अथ कारकप्रकरणम्

(५३२) प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे प्रथमा २।३।४६॥ नियतोपस्थितिकः प्रातिपदिकार्थः। मात्रशब्दस्य प्रत्येकं योगः। प्रातिपदिकार्थमात्रे लिङ्गमात्राद्या-

---

(५३२) **अथ कारकप्रकरणप्रारम्भः। तदेवम् 'ङ्याप्प्रातिपदिकात्' इत्यधिकृत्य विहिताः स्वादिप्रत्ययाः सप्रपञ्चं निरूपिताः। तत्र प्रथमादिसप्तम्यन्तसप्तविभक्तीनामर्थविशेषव्यवस्थां दर्शयितुमुपक्रमते**—प्रातिपदिकार्थ। **ननु प्रवृत्तिनिमित्तं व्यक्तिश्चेति द्विकं प्रातिपदिकार्थः, प्रवृत्तिनिमित्तं व्यक्तिः लिङ्गं चेति त्रिकं प्रातिपदिकार्थः, प्रवृत्तिनिमित्तं व्यक्तिः लिङ्गं संख्या चेति चतुष्कं प्रातिपदिकार्थः, प्रवृत्तिनिमित्तं व्यक्तिः लिङ्गं संख्या कारकं चेति पञ्चकं प्रतिपदिकार्थः, इत्येते पक्षाः 'सरूपाणामेकशेष एकविभक्तौ' 'स्त्रियाम्' इत्यादिसूत्रेषु भाष्ये स्थिताः, मञ्जूषायां प्रपञ्चिताश्च। तत्र त्रिकादिपक्षेषु लिङ्गस्यापि प्रातिपदिकार्थत्वात् पृथग्ग्रहणं व्यर्थमित्यत आह**—नियतेति। **नियता उपस्थितिर्यस्येति**

कारक-प्रकरण-प्रारम्भ

उपक्रम—लोकव्यवहार में अर्थ की स्पष्ट प्रतीति वाक्य से होती है। वाक्य के स्वरूप पर ऊहापोह सुदूर भूत में ही आरम्भ हो गए थे। अष्टाध्यायी में वाक्य से सम्बद्ध कार्यों के विधान अवश्य वर्णित हैं, किन्तु वाक्य की परिभाषा के विषय में उल्लेख नहीं मिलता। उसकी पूर्ति वार्तिककार कात्यायन ने की है। अतः उन्हें **वाक्यकार** भी कहा जाता है। उनका यह विशिष्ट नाम दो तरह से सार्थक है। प्रथम—उन्होंने पाणिनि के सूत्रों पर 'वार्तिक' लिखकर 'वाक्य' का सरल रूप प्रस्तुत किया है। उससे उनकी रचना या वस्तु के आकृति-परक स्वरूप का अन्तर विदित होता है। सूत्र में वाक्य-रचना की ओर ध्यान नहीं दिया जाता। उसे 'वृत्ति' 'भाष्य' आदि के रूप में पूर्ण करना पड़ता है, जब कि 'वाक्य' स्वयं में एक पूर्ण इकाई है। 'वार्तिक' इन्हीं सरल लघु वाक्यों के रूप में लिखे गए थे। उनमें सूत्रात्मक संक्षेप नहीं था। द्वितीय—वे वाक्यकार के नाम से इस कारण प्रसिद्ध हुए कि उन्होंने सर्वप्रथम 'वाक्य' का लक्षण निर्धारित किया। वार्तिककार ने 'वाक्य' के दो पारिभाषिक लक्षण दिये हैं। उनमें से एक है—**'आख्यातं साव्ययकारकविशेषणं 'वाक्यम्'**। यहाँ 'आख्यात' पद से एक क्रियापद अभीष्ट है। अर्थात् अव्यय, कारक, एवं विशेषणसहित आख्यात वाक्य है। जैसे—अव्ययसहित—'उच्चैः पठति'। कारकसहित—'ग्रामं गच्छति'। क्रियाविशेषणसहित—'सुष्ठु पचति'। दूसरे लक्षण के अनुसार 'वाक्य' का स्वरूप है **'एकतिङ् वाक्यम्'**। इस लक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि दो आख्यात वाले वाक्य को एक वाक्य न माना जाय।

वाक्य एक है, अवयवरहित है। वाक्य में अवयव की कल्पना बाद में की जाती है। मूलरूप में वाक्य अपने आप में अविच्छिन्न है, पूर्ण है। वाक्य के अवयव-रहित स्वरूप को स्पष्ट करने के लिए वैयाकरणों ने चित्रबुद्धि[1] आदि का आश्रय लिया है। सर्वप्रथम चित्र हमारे सामने पूर्ण

---

१. "चित्रस्थस्यैकरूपस्य यथा भेदनिदर्शनैः।
नीलादिभिः समाख्यानं क्रियते भिन्नलक्षणैः॥
तथैवैकस्य वाक्यस्य निराङ्क्षस्य सर्वतः।
शब्दान्तरैः समाख्यानं साकाङ्क्षैरनुगम्यते॥" वाक्यपदीय २-८।९

धिक्ये सङ्ख्यामात्रे च प्रथमा स्यात् । उच्चैः । नीचैः । कृष्णः । श्रीः । ज्ञानम् । अलिङ्गा

विग्रहः । यस्मिन् प्रातिपदिके उच्चारिते यस्यार्थस्य नियमेनोपस्थितिः स तदर्थ इत्यर्थः । एवञ्च तटः तटी तटम् इत्याद्यनियतलिङ्गेषु नियमेन कस्यापि लिङ्गस्योपस्थित्यभावात् प्रातिपदिकार्थशब्देनाग्रहणात् पृथक् लिङ्गग्रहणमावश्यकमिति भावः । मात्रशब्दस्य वचनशब्देनैवान्वयभ्रमं वारयति—मात्रशब्दस्येति । प्रातिपदिकार्थश्च लिङ्गं च परिमाणं च वचनं चेति द्वन्द्वः । प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रमित्यस्वपदविग्रहः । मात्रशब्दोऽवधारणे । 'मात्रं कात्स्न्र्येऽवधारणे' इत्यमरः । 'मयूरव्यंसकादयश्च' इति नित्यसमासः । मात्रशब्दस्य द्वन्द्वान्ते श्रूयमाणत्वात् प्रातिपदिकार्थे, लिङ्गे, परिमाणे, वचने च प्रत्येकमन्वय इत्यर्थः । वचनं संख्येति वक्ष्यति । ननु प्रातिपदिकार्थमात्रे लिङ्गमात्रे परिमाणमात्रे सङ्ख्यामात्रे च प्रथमेत्यनुपपन्नम् । लिङ्गादीनां केवलानां प्रातिपदिकार्थं विना क्वाप्यनुपस्थितेरित्याशङ्क्य अत एव बाधकात्

रूप में रहता है । तदनन्तर उसके भिन्न-भिन्न भागों में दृष्टि जाती है । उसी तरह वाक्य भी अपने आप में पूर्ण है, निराकाङ्क्ष है एवम् अवयवरहित है । उसे समझने के लिये हम शब्दों (पदों) में बाँटते हैं तथा शब्दों का एक दूसरे से सम्बन्ध जोड़कर वाक्य का विश्लेषण करते हैं । जिस तरह मोर के अण्डे के भीतर विद्यमान रस में भावी मयूर के अङ्ग-प्रत्यङ्ग, चक्रक आदि अविभक्त रूप में पड़े रहते हैं तथा बाद में विभक्त होकर अलग-अलग अवयव के रूप में प्रत्यक्ष होते हैं, उसी तरह वाक्य में पद आदि अविभक्त रूप में होते हैं । उनकी अलग-अलग प्रतीति अन्वाख्यान के सहारे हमारे सामने आती है । वैसे ही पद के सम्यक् ज्ञान के लिए हम उसे प्रकृति-प्रत्यय में विभक्त करते हैं । वह प्रकृति-प्रत्यय-विभाग भी काल्पनिक है । इस प्रकार वाक्य का वास्तविक विभाग नहीं होता, किन्तु यथासम्भव शीघ्र बोध कराने के लिए विभाग का आश्रय लिया जाता है ।

इस दृष्टि से वाक्य ही अर्थ-वाचक माना गया है । वर्ण अथवा पद सिद्धान्त में अर्थ के वाचक नहीं हैं । वाक्य की अखण्डता को अभिलक्षित कर व्याकरण-दर्शन में 'वाक्यस्फोट' का प्राधान्य सर्वविदित है । 'वाक्यस्फोट' की प्रधानता को ध्यान में रखकर भट्टोजी दीक्षित ने ग्रन्थ के आरम्भ में 'वाक्यस्फोट' के अभिव्यञ्जक एवं वाक्य की साधुता के प्रतिपादक पञ्चसन्धि-प्रकरण का निर्वचन किया है । 'वाक्य' की पूर्णता का बोध कराने के लिए सुबन्त (विभक्तियाँ) तथा तिङन्त (धातु-सम्बन्धी प्रत्यय) पदों का स्वरूप जानना आवश्यक है । इस बात को ध्यान में रखकर 'सूची-कटाह' न्याय से सर्वप्रथम 'सुबन्त' शब्दों का निर्वचन षड्-लिङ्ग प्रकरण में किया गया है । 'सुप्'-विभक्तियों के प्रकृति-रूप 'प्रातिपदिक' के साधुत्व प्रतिपादक समास, तद्धित आदि का निर्वचन करने की अपेक्षा भट्टोजिदीक्षित ने कारक-प्रकरण को प्राथमिकता दी है । उसका कारण यह है कि समास, तद्धित आदि के उद्देश्य को कार्यान्वित करने में कारकों की उपयोगिता सर्वविदित है । तथापि 'कारक'-प्रकरण के पूर्व 'स्त्री-प्रत्यय' प्रकरण का निर्वचन उन्होंने इस हेतु किया है कि 'प्रातिपदिक' के समान ही 'ङयन्त' एवं 'आबन्त' शब्दों से भी 'सुप'-विभक्तियाँ संयुक्त होती हैं । अतः सुप्-विभक्तियों के अर्थ का ज्ञान आवश्यक है । इसका निरूपण करने के लिए प्रसङ्गप्राप्त 'कारक-प्रकरण' आरम्भ होता है ।[1]

१. आरोहणावरोहणक्रमयोर्मध्येऽवरोहणक्रमेण शब्दसाधुत्वाभिधायकग्रन्थरचने प्रवृत्तः श्रीमद्-भट्टोजिदीक्षितः पूर्वं वाक्यस्फोटस्यैवास्मत्सिद्धान्तसिद्धतया वाक्यस्फोटाभिव्यञ्जकवाक्यसाधुत्वबोधक

नियतलिङ्गाश्च प्रातिपदिकार्थमात्र इत्यस्योदाहरणम्। अनियतलिङ्गास्तु लिङ्गमात्रा-

लिङ्गमात्रे अधिके इति विवक्षितमित्यभिप्रेत्य व्याचष्टे—लिङ्गमात्राद्याधिक्य इति। **लिङ्गमात्राधिक्ये चेत्यर्थः। प्रातिपदिकार्थमात्र इत्यस्योदाहरति**—उच्चैरित्यादि। **नन्वव्ययेषु 'सामान्ये नपुंसकम्' इति नपुंसकत्वस्य च कृष्णशब्दे पुंस्त्वस्य च श्रीशब्दे स्त्रीत्वस्य च ज्ञानशब्दे नपुंसकत्वस्य च भानात् कथं प्रातिपदिकार्थस्योदाहरणान्येतानीत्यत आह**—अलिङ्गा इत्यादि। **'अव्ययादाप्सुपः' इति सूत्रे 'आब्ग्रहणं व्यर्थमलिङ्गत्वात्' इति भाष्योक्तरीत्या अव्यये कस्यापि लिङ्गस्यानुपस्थितिरिति प्रातिपदिकार्थमात्रे इत्यस्य भवत्यव्ययमुदाहरणम्। कृष्णशब्दे पुंस्त्वस्य, श्रीशब्दे स्त्रीत्वस्य, ज्ञानशब्दे नपुंसकत्वस्य च नियमेन**

वाक्य-विन्यास में तीन बातें प्रमुख हैं—(क) पदों का परस्पर समन्वय, (ख) कारक और (ग) पदों का क्रम। संस्कृत में प्रथम दो बातों पर विशेष विचार हुआ है किन्तु अंग्रेजी भाषा में पदों के क्रम पर अधिक विचार किया गया हैं। संस्कृत विभक्ति-प्रधान भाषा है अतः उसमें पदों का परस्पर सम्बन्ध विभक्तियों से निर्धारित होता है, भले ही वे पद कहीं रख दिये जायँ। वहाँ क्रम-परिवर्तन से अर्थ-परिवर्तन नहीं होता। इसके विपरीत अंग्रेजी आदि विभक्तिरहित भाषाओं में क्रम-परिवर्तन करते ही अर्थपरिवर्तन हो जाता है। यद्यपि संस्कृत में केवल पदों का क्रम ही महत्त्व नहीं रखता तथापि इस विषय में पूर्णतया स्वच्छन्दता नहीं बरती जासकती है। पदों के परस्पर समन्वय से तात्पर्य है—वाक्य में पदों के लिङ्ग, वचन, पुरुष या काल की समरूपता। संस्कृत में पदों के परस्पर समन्वय के विषय में तीन बातें उल्लेखनीय है—(क) कर्ता और क्रिया का समन्वय, (ख) विशेषण और विशेष्य का समन्वय तथा (ग) सापेक्ष शब्दों का अपने पूर्ववर्ती सम्बद्ध शब्दों से समन्वय।

संस्कृत व्याकरण में 'वाक्य-विन्यास' के सन्दर्भ में कारक-प्रकरण पर विशेष विचार हुआ है। तदनुसार वाक्य में संज्ञा और क्रिया के बीच जो सम्बन्ध है, उसके आधार पर ही **'कारक'** नाम दिया गया है। वस्तुतः यह क्रिया की निष्पत्ति में लगी हुई द्रव्यशक्ति है, जिसे साधन भी कहते हैं। इसी का दूसरा नाम कारक है[1]। वह शक्ति मूल-रूप में एक है—'कर्तृत्वशक्ति'। वही शक्ति अवान्तर-व्यापार की विवक्षा से करण, सम्प्रदान आदि नाम प्राप्त कर छह रूपों में प्रकाशित होती है[2]। उसी शक्ति के ये छह भेद कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान और अधिकरण नाम से प्रसिद्ध है[3]। इनमें कर्ता की प्रधानता इसलिये मानी जाती है कि करण आदि की प्रवृत्ति एवं निवृत्ति उसी के अधीन होती है।

(५३२) पद—प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे, प्रथमा। **विधिसूत्र।**

पञ्चसन्धिप्रकरणमुक्त्वा ततो वाक्यसाधुत्वबोधनाय वाक्यघटकसुबन्त-तिङन्त-पदसाधुत्वबोधनस्य आवश्यकतया सूचीकटाहन्यायेन पूर्वं सुबन्तस्यैव साधुत्वबोधकषड्लिङ्गाव्ययप्रकरणे अभिधाय सुप्प्रकृतिभूत-प्रातिपदिकसाधुत्वबोधक-समासतद्धित-प्रकरणापेक्षया तदीयोद्देश्यतावच्छेदकसम्पादकतया सुपसाधुत्वबोधक-कारकप्रकरणस्य लेखनावश्यकत्वेऽपि सुप्प्रातिपदिकयोरन्तर्गतत्वेन स्त्रीप्रत्ययोत्तरमपि "ङ्याप्प्रातिपदिकात्" (४-१-१) इत्यनेन स्वादेर्विधानाच्च पूर्वं स्त्रीप्रत्ययप्रकरणमुल्लिख्य तदनन्तरमस्यैव निरूपणीयत्वादाह—**स्वौजसेति**। म० म० पं० नित्यानन्द पन्त पर्वतीय कृत 'लघुशब्देन्दुशेखर'-'दीपक' व्याख्या।

१. "स्वाश्रये समवेतानां तद्वदेवाश्रयान्तरे। क्रियाणामभिनिष्पत्तौ सामर्थ्यं साधनं विदुः॥"
वाक्यपदीय, तृतीय-काण्ड, साधनसमुद्देश १।

२. निमित्तभेदादेकैव भिन्ना शक्तिः प्रतीयते।
षोढा कर्तृत्वमेवाहुस्ततः प्रवृत्तेर्निबन्धनम्॥ वाक्यपदीय ३, साधनसमुद्देश, ३७।

३. कर्ता कर्म च करणं सम्प्रदानं तथैव च। अपादानाधिकरण इत्याहुः करकाणि षट्॥

धिक्यस्य। तटः–तटी–तटम्। परिमाणमात्रे द्रोणो व्रीहिः। द्रोणरूपं यत्परिमाणं

भानमस्ति, तेषां नियतलिङ्गत्वात्। अतस्तेषु लिङ्गानामपि प्रातिपदिकार्थान्तर्भावात् तेषामपि प्रातिपदिकार्थमात्रे इत्युदाहरणत्वं निर्बाधमिति भावः। यद्यपि कृष्णः पटः, कृष्णा पटी, कृष्णं वस्त्रम् इत्यादौ कृष्णशब्दस्त्रिलिङ्गः, तथापि अगवत्परं एवात्र कृष्णशब्दो विवक्षित इति भावः। न च प्रातिपदिकोक्तार्थे किं प्रथमयेति वाच्यम्, एकत्वादिसङ्ख्या-बोधार्थत्वात्। न चाव्ययात् प्रथमोत्पत्तेः फलाभावः 'अव्ययादाप्सुपः' इति लुकोऽवश्यं प्रवृत्तेरिति वाच्यम्, पदत्वार्थं सुबुत्पत्तेरावश्यकत्वात्। तेन उच्चैरित्यादौ रुत्वविसर्गौ 'उच्चैस्ते सम्यगुच्चारणम्' इत्यादौ तेमयादिसिद्धिश्च भवति। अनियतेति। अनियतलिङ्गास्तु

मूलार्थ—नियत उपस्थिति वाले अर्थ को प्रातिपदिकार्थ कहा जाता है। 'मात्र' शब्द का प्रत्येक से सम्बन्ध है। केवल प्रातिपदिकार्थ में, लिङ्गमात्राधिक्य में, परिमाणमात्र में तथा वचनमात्र में प्रथमा विभक्ति होती है। जैसे—उच्चैः, नीचैः, कृष्णः, श्रीः, ज्ञानम्। प्रातिपदिकार्थमात्र के उदाहरण वे शब्द हैं जिनका कोई लिङ्ग नहीं है अथवा जिनका लिङ्ग निश्चित है। 'अनियतलिङ्ग' शब्द लिङ्गमात्र के आधिक्य के उदाहरण हैं। जैसे—तटः, तटी, तटम्। परिमाणमात्र की अधिकता में (प्रथमा-विभक्ति का उदाहरण)—द्रोणो व्रीहिः। इसका अर्थ है—'द्रोणरूप परिमाण से नापा हुआ धान्य (व्रीहि)'। प्रत्यय (= विभक्ति) के परिमाण–अर्थ में प्रकृति (द्रोण) का अर्थ (विशेष-परिमाण) अभेद सम्बन्ध से विशेषण होता है तथा प्रत्यय (=विभक्ति) का अर्थ (साधारण परिमाण) परिच्छेद्य-परिच्छेदकभाव सम्बन्ध से व्रीहि का विशेषण हो जाता है—यही इसका तात्पर्य (विवेक) है। 'वचन' का अर्थ संख्या है। एकः। द्वौ। बहवः। (संख्यारूप =) अर्थ उक्त होने से विभक्ति प्राप्त न होने के कारण सूत्र में 'वचन' ग्रहण किया गया है।

सन्दर्भ—"ङयाप्प्रातिपदिकात्" (४-१-१) अधिकार के अन्तर्गत सात विभक्तियों के सु, औ, जस् आदि २१ प्रत्ययों का परिचय कराया जा चुका है ("स्वौजसमौट्०" ४-१-२)। मुख्यरूप से उन सातों विभक्तियों के अर्थ बतलाने के लिये इस प्रकरण का आरम्भ किया जारहा है। क्रम-प्राप्त प्रथमा-विभक्ति से आरम्भ कर सप्तमी-विभक्ति-पर्यन्त सभी विभक्तियों का अर्थ निरूपित करना इस प्रकरण का मुख्य उद्देश्य है।

विवरण—प्रथमा-विभक्ति का अर्थ बतलाने का उपक्रम किया जारहा है। तदनुसार सूत्र का विश्लेषण करना आवश्यक है। सूत्रस्थ 'प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रे' पद का विग्रह इस प्रकार है—प्रातिपदिकस्य अर्थः प्रातिपदिकार्थः (षष्ठी-तत्पुरुष)। प्रातिपदिकार्थश्च, लिङ्गञ्च, परिमाणञ्च, वचनञ्च–प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनम् (समाहार-द्वन्द्व)। प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनान्येव प्रातिपदिकार्थलिङ्गपरिमाणवचनमात्रम्, तस्मिन्, प्रतिपदिकार्थ···मात्रे। यह नियम है कि 'द्वन्द्व' समास के अन्त में विद्यमान शब्द का प्रत्येक शब्द के साथ सम्बन्ध होता है। इस नियम के अनुसार 'प्राति-पदिकार्थे' 'लिङ्गे' 'परिमाणे' तथा 'वचने' शब्द के साथ 'मात्र' शब्द का अन्वय होता है। मात्र शब्द का अर्थ अवधारण है। तदनुसार "प्रातिपदिकार्थ मात्र में, लिङ्गमात्र की अधिकता में, परिमाणमात्र में और संख्यामात्र में प्रथमा-विभक्ति होती है"। क्रमप्राप्त **'प्रातिपदिकार्थ'** शब्द की व्याख्या की जारही है। वह 'नियतोपस्थितिक' है। अर्थात् जिस शब्द के उच्चारण के समनन्तर जो वस्तु नियत (निश्चित) रूप से उपस्थित हो, वही उस प्रातिपदिक का अर्थ होता है[1]। जैसे 'घट' शब्द का उच्चारण करते ही 'कम्बुग्रीवादिमत्त्व' अर्थ की उपस्थिति होती है, वही उसका अर्थ है। अतः केवल प्रातिपदिकार्थ को अभिलक्षित कर 'घट' शब्द से प्रथमा-विभक्ति हो जायगी—'घटः'। फलतः किसी भी शब्द से

१. नियता उपस्थितिः यस्य स नियतोपस्थितिकः। नि-पूर्वकयमधातोर्व्यापकत्वमर्थः। आश्रयश्च लभ्यते। षष्ठ्यर्थश्च विषयता। तथा च व्यापकताश्रयोपस्थितिविषयत्वं प्रातिपदिकार्थत्वमिति शब्दतो लभ्यते।

तत्परिच्छिन्नो व्रीहिरित्यर्थः। प्रत्ययार्थे परिमाणे प्रकृत्यर्थोऽभेदेन संसर्गेण विशेषणम्, प्रत्ययार्थस्तु परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावेन व्रीहौ विशेषणमिति वितेकः। वचनं सङ्ख्या।

तटादिशब्दाः लिङ्गमात्राधिक्यस्योदाहरणम्। तत्र लिङ्गानामनियतोपस्थितिकतया प्रातिपदिकार्थानन्तर्भावादित्यर्थः। तटः तटी तटमिति। 'तटं त्रिषु' इत्यमरः। परिमाणमात्रे इति। उदाहरणं वक्ष्यते इत्यर्थः। द्रोणो व्रीहिरिति। द्रोणः परिमाणविशेषः।

जालसूर्यमरीचिस्थं त्रसरेणुरिति स्मृतम्। तेऽष्टा लिक्षा तु तास्तिस्रो राजसर्षप उच्यते॥
गौरस्तु ते त्रयष्षट् ते यवो मध्यस्तु ते त्रयः। कृष्णलः पञ्च ते माषः ते सुवर्णस्तु षोडश॥
पलं सुवर्णाश्चत्वारः पञ्च वापि प्रकीर्तितम्। पलद्वयं तु प्रसृतं द्विगुणं कुडवं मतम्॥
चतुर्भिः कुडवैः प्रस्थं प्रस्थाश्चत्वार आढकः। आढकैस्तैश्चतुर्भिस्तु द्रोण इत्यभिधीयते॥
कुम्भो द्रोणद्वयं शूर्पः खारी द्रोणास्तु षोडश॥' इति स्मरणात्। व्रीहिरिति। जातावेकवचनम् 'जात्याख्यायामेकस्मिन् बहुवचनमन्यतरस्याम्' इति वचनात्। व्रीहिराशिरिति यावत्। न ह्येकस्याः व्रीहिव्यक्तेः द्रोणपरिमाणं सम्भवति। ननु द्रोणाख्यपरिमाणविशेषस्य व्रीहिव्यक्तेश्च कथमभेदान्वयः, धर्मधर्मिणोर्भेदादित्यत आह—द्रोणरूपमिति। तथा चाभेदान्वयस्य बाधादेव द्रोणपरिमाणस्य व्रीहिव्यक्तेश्च परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावेनान्वयाभ्युपगमान्नोक्तदोष इति भावः। ननु द्रोणशब्दस्य परिमाणविशेषवाचिनो नियतपुँल्लिङ्गत्वे प्रातिपदिकार्थमात्रे इत्येव सिद्धम्। यदि तु 'अस्त्रियामाढकद्रोणौ' इति द्विलिङ्गता, तर्हि लिङ्गमात्राधिक्ये इत्येव सिद्धम्। तत् किं

विभक्तियाँ संयुक्त होने के पूर्व उसमें अर्थप्रकाशन की योग्यता (शक्ति) होना आवश्यक है। शब्द की मौलिक स्थिति को 'प्रातिपदिक' कहा गया है ("अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्"–१७८)। सामान्य अर्थ की अपेक्षा कुछ अधिक प्रतीत हो तो केवल लिङ्गरूप अर्थ, परिमाणरूप अर्थ तथा संख्यारूप अर्थ ही हो। इस कथन से यह स्पष्ट हो गया कि 'प्रातिपदिकार्थ' के साथ ही जहाँ लिङ्ग, परिमाण तथा संख्या-रूप अर्थों की प्रतीति होगी वहाँ भी उन शब्दों से प्रथमा-विभक्ति ही संयुक्त होगी।

इस सूत्र के क्रमशः **उदाहरण** दिए जारहे हैं। (क) **प्रातिपदिकार्थमात्र**—उच्चैः (ऊपर), नीचैः (नीचे), कृष्णः (वसुदेव के पुत्र), श्रीः (लक्ष्मी) तथा ज्ञानम् (ज्ञान)। इनमें प्रथमा विभक्ति का अर्थ केवल उन शब्दों से निश्चित प्रतीत होने वाला अर्थ है। इन पाँचों शब्दों में से प्रथम दो शब्द–'उच्चैस्' और 'नीचैस्'–अव्यय हैं, अतः अलिङ्ग हैं। इन से 'सु' विभक्ति आने पर "अव्ययादाप्सुपः" (२-४-८२) से उसका लोप हो जाता है। तीसरा शब्द 'कृष्णः' (कृष्ण+सु) नित्य पुंलिङ्ग-वाची है। चौथा शब्द 'श्रीः' (श्री+सु) नित्य स्त्रीलिङ्ग है। पाँचवाँ शब्द 'ज्ञानम्' (ज्ञान+सु) नित्य नपुंसकलिङ्ग है। अतः 'प्रातिपदिकार्थ' के उदाहरण अलिङ्ग (अव्यय) और नियतलिङ्ग (निश्चितलिङ्ग) होंगे। (ख) **लिङ्गमात्र** की अधिकता के उदाहरण—तटः, तटी, तटम्! 'तट' (= किनारा) शब्द का प्रयोग तीनों लिङ्गों में होता है। इन तीनों प्रयोगों में 'सु' विभक्ति क्रमशः विसर्ग, 'सु'-लोप तथा 'अम्' के रूप में परिवर्तित हो गई है। इन शब्दों में उस विभक्ति का अर्थ उसकी मूल प्रकृति (प्रातिपदिक) के साथ पुलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग तथा नपुंसकलिङ्ग भी है। (ग) **परिमाण**मात्र—'द्रोणो व्रीहिः' (द्रोण भर चावल)। 'द्रोणः' (द्रोण+सु) में 'विभक्ति' का अर्थ है सामान्य-परिमाण (नाप, तोल) तथा प्रकृति–'द्रोण' का अर्थ है द्रोण नामक परिमाण-विशेष। इन दोनों का अभेद सम्बन्ध से अन्वय होता है। यह नियम है कि विशेषण और विशेष्यवाची शब्दों में अभेदार्थ की प्रतीति होती है। तदनुसार यहाँ भी 'विभक्ति' का 'सामान्य परिमाण' अर्थ 'विशेष्य' के रूप में माना जायगा। तथा प्रकृति–'द्रोण'–का परिमाण-विशेष अर्थ विशेषण के रूप में लिया जायगा। इस प्रकार 'द्रोण' से 'द्रोणाभिन्न' (= द्रोणरूपात्मक) परिमाण अर्थ की प्रतीति होती है ('सामान्यविशेषयोः अभेदः')। अब अग्रिम पद 'व्रीहि' के अर्थ के साथ प्रत्ययार्थ परिमाण का परिच्छेद्य-परिच्छेदकभाव से अन्वय होता है। नापी जाने वाली वस्तु को

एकः। द्वौ। बहवः। इहोक्तार्थत्वाद्विभक्तेरप्राप्तौ वचनम्। (५३३) सम्बोधने च

परिमाणग्रहणेनेति चेत्तत्राह—प्रत्ययार्थे परिमाणे इति। न हि द्रोणत्वेन रूपेण परिमाण-विशेषवाचिद्रोणशब्दात् स्वार्थे प्रथमाविभक्तिरिष्यते, येन प्रातिपदिकार्थमात्रे इत्यनेन गतार्थता स्यात्। किं तु द्रोणत्वेन परिमाणवाचिनो द्रोणशब्दात् परिमाणत्वसामान्यरूपेण द्रोणपरिमाणे विवक्षिते प्रथमा विभक्तिर्विधीयते। ततश्च प्रत्ययार्थे परिमाणसामान्ये द्रोणशब्दार्थात्मकप्रकृत्यर्थः परिमाणविशेषः सामान्यविशेषात्मकाभेदसंसर्गेणान्वेति। परि-माणसामान्यात्मकप्रत्ययार्थस्तु परिच्छेद्यपरिच्छेदकभावेन व्रीहावन्वेति। तथा च द्रोणा-ख्यपरिमाणविशेषात्मकं यत् सामान्यपरिमाणं तत्परिच्छिन्नो व्रीहिरिति बोधः फलति। अन्यथा द्रोणाख्यपरिमाणविशेषपरिच्छिन्नो व्रीहिरिति बोधः स्यात्। परिमाणसामान्यं न प्रतीयेत। तदर्थमिह परिमाणग्रहणमित्यर्थः। वचनं संख्येति। पूर्वाचार्यैस्तथा संज्ञाकरणादिति परिमाणमात्राधिक्ये इतिवत् भावः। तथा च सङ्ख्यामात्रे प्रथमेति लभ्यते। न च लिङ्ग-मात्राधिक्ये परिमाणमात्राधिक्ये इतिवत् सङ्ख्यामात्राधिक्ये इति कुतो न व्याख्यातमिति वाच्यम्, केवललिङ्गपरिमाणयोः क्वाप्युपस्थित्यभावेन तथा व्याख्यानेऽपि एकद्विबहुशब्दे-ष्वेकत्वद्वित्वबहुत्वानां केवलानां नियतोपस्थितिसत्त्वेन सङ्ख्यामात्रे इत्येव व्याख्यातु-मुचितत्वात्। अत एव भाष्ये वचनग्रहणांशे एकः द्वौ बहवः इत्युदाहृतम्। ननु एकः द्वौ बहवः इत्यत्र एकत्वद्वित्वबहुत्वानां नियमेनोपस्थित्या 'प्रातिपदिकार्थे' इत्येव सिद्धे वचन-ग्रहणं व्यर्थमित्यत आह—इहेति। प्रकृतिभिरेवैकत्वादीनामुक्तत्वात् 'उक्तार्थानामप्रयोगः' इति न्यायेन प्रथमाविभक्तेरप्राप्तौ तदर्थं वचनग्रहणमित्यर्थः। तथा च विभक्तिरिहानु-वादिका शब्दसाधुत्वार्थं प्रयोज्या, 'न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या, नापि प्रत्ययः' इति अन-भिहितसूत्रभाष्यसिद्धन्यायादिति भावः। इदमेवाभिप्रेत्योक्तं भाष्ये—'उक्तेष्वप्येकत्वादिषु प्रथमा' इति। मात्रग्रहणात् कारकाद्याधिक्ये प्रथमा न भवति। तत्र 'अर्थे प्रथमा' इत्येव सूत्रयितुमुचितमिति प्रौढमनोरमादौ प्रपञ्चितम्।

(५३३) सम्बोधने च। इहेति। सम्बोधने अधिके गम्येऽपि प्रथमा स्यादित्यर्थः। सम्बोधनमभिमुखीकृत्य ज्ञापनम्। हे रामेति। मां पाहीति शेषः। इह रामं प्रति मद्रक्षण

'परिच्छेद्य' कहा जाता है तथा मापक या मान 'परिच्छेदक' होता है। 'द्रोणो व्रीहिः' वाक्य में 'व्रीहि' पद का अर्थ 'मेय' है और 'द्रोण' शब्द की 'सु' विभक्ति का अर्थ 'मापक' (मान) है। 'मान' और 'मेय' दोनों में रहने वाले परस्पर सम्बन्ध को ग्रन्थ में 'परिच्छेद्य-परिच्छेदकभाव' कहा गया है। उपर्युक्त प्रकार से शाब्दबोध होने पर 'द्रोणो व्रीहिः' वाक्य का अर्थ यह होगा—'द्रोण' नामक माप से नापा हुए चावल'। (घ) **वचन**मात्र के उदाहरण हैं—एकः (एक), द्वौ (दो) तथा बहवः (बहुत)। यहाँ पर 'वचन' शब्द संख्या का बोधक है। इन तीनों उदाहरणों में क्रमशः (एक+सु) एकत्व, (द्वि+औ) द्वित्व तथा (बहु+जस्) बहुत्व का बोध होता है। यदि एकत्व, द्वित्व तथा बहुत्व अर्थ विभक्तियों का न होकर प्रकृत्यर्थ ही होता तो पुनरुक्ति दोष हो जाता तथा 'उक्तार्थानाम् अप्रयोगः' नियम के अनुसार विभक्तियों की उत्पत्ति असम्भव थी। अतः इस सूत्र में 'वचन' ग्रहण कर विभक्ति का विशेष-विधान करना पड़ा है।

विशेष—१-'द्रोण' काठ का या लोहे का एक पात्र होता था, जिसमें भर कर 'धान' को नापा जाता रहा। इस प्रकार 'द्रोण' तोल-विशेष है। प्रायः १० सेर के लगभग तोल को 'द्रोण' कहा गया है।

२—'मात्र' शब्द के ग्रहण करने का दूसरा फल यह है कि 'कारक' आदि अर्थ की अधिकता प्रतीत होने पर प्रथमा-विभक्ति नहीं होती।

(५३३) पद—सम्बोधने, च। अनुवृत्ति-प्रथमा। विधिसूत्र।

२।३।४७॥ इह प्रथमा स्यात्। हे राम। (५३४) कारके १।४।२३॥

ज्ञाप्यम्। न च 'हे राजन् सार्वभौमो भव' इत्यत्र सार्वभौमशब्दादपि सम्बोधनप्रथमा स्यादिति वाच्यम्, सम्यक् बोधनमेव हि सम्बोधनम् समित्युपसर्गबलात्। श्रोतरि विशिष्य राजत्वादिना ज्ञाते सत्येव तं प्रति कश्चिदर्थो ज्ञापयितुं शक्यः, नान्यथा। ततश्च सम्बोधनविभक्तिरियमनुवाद्यविषयैवेति लभ्यते, न तु विधेयविषया। तथा च सार्वभौमत्वस्य विधेयस्य इदानीमसिद्धत्वेन अनुवाद्यत्वाभावान्न सार्वभौमशब्दात् सम्बोधनविभक्तिरिति मञ्जूषायां विस्तरः। इति प्रथमा विभक्तिः।

(५३४) अथ द्वितीया विभक्तिः। कारके। इत्यधिकृत्येति। संज्ञा वक्ष्यन्ते इति शेषः।

मूलार्थ—सम्बोधन में प्रथमा विभक्ति होती हैं। हे राम।

विवरण—पूर्व सूत्र से (२-३-४६) 'प्रथमा' की अनुवृत्ति अपेक्षित है। तदनुसार सम्बोधन अर्थ में भी प्रथमा विभक्ति होती है। 'प्रातिपदिकार्थ' से अधिक प्रतीति होने वाले अर्थ के कारण उसका पृथक् निर्देश किया जारहा है। सम्मुखीकरण को सम्बोधन कहा जाता है। सिद्ध पदार्थ का क्रिया के प्रति विनियोग करने के लिए सम्बोधन का आश्रय लिया जाता है। सम्बोधन के लिए प्रयुक्त विभक्ति आमन्त्रित-विभक्ति भी कही जाती है। **उदाहरण**—हे राम। इस शब्द में 'सु' विभक्ति का अर्थ सम्बोधन है। "एङ्ह्रस्वात् सम्बुद्धेः (६-१-६९) सूत्र से विभक्ति का लोप हो जाता है। 'हे' पद सम्बोधन का प्रतीक है। इसका प्रयोग स्पष्टता के लिए किया जाता है। 'हे' आदि प्रयोग के बिना भी सम्बोधन-अर्थ की प्रतीति होती है। सम्बोधन के अर्थ का क्रिया में अन्वयबोध होता है। इसके फलस्वरूप आगे कही जाने वाली बात का अध्याहार होकर उसके साथ एकवाक्यता की जाती है। अतः 'मां पाहि' (= मेरी रक्षा करो) आदि वाक्यांश से इसकी पूर्ति की जाती है। इस प्रकार यहाँ सम्बोधित राम से रक्षा करने की प्रार्थना अभीष्ट है।

विशेष—यहाँ 'राम' कहने से (= प्रातिपदिकार्थ =) व्यक्ति-विशेष 'दशरथपुत्र राम' का ज्ञान होने के अतिरिक्त 'अभिमुखीकरण'-रूप अर्थ की अधिकता होने से 'प्रातिपदिकार्थ' में प्रथमा सम्भव नहीं थी। अतः पृथक् सूत्र के द्वारा विधान किया गया है।

(५३४) **पद**—कारके। **अधिकारसूत्र।**

मूलार्थ—यह अधिकार-सूत्र है।

विवरण—अधिकार होने के कारण "तत्प्रयोजको हेतुश्च" (१-४-५५) सूत्र तक इसकी अनुवृत्ति रहेगी। इसके फलस्वरूप अपादानादि संज्ञा-विधान करने वाले सूत्रों में 'कारके' का प्रभाव पड़ने के कारण कर्म, कर्ता, करण आदि 'कारक' कहलाते हैं। कारक का व्युत्पत्तिलभ्य अर्थ है 'करने वाला' (करोति इति कारकम्—√कृ+ण्वुल् > कारक)। क्या करने वाला है? इस आकाङ्क्षा की पूर्ति के लिये 'करोति' का अथ 'क्रियां निर्वर्तयति' (= क्रिया को संपन्न करता है)—यह किया जाता है। दूसरे शब्दों में कारक का 'क्रिया के साथ अन्वय होता है'। कारक छह हैं—कर्ता, कर्म, करण, सम्प्रदान, अपादान तथा अधिकरण। सम्बन्ध कारक नहीं हैं, क्योंकि उसका क्रिया के साथ साक्षात् सम्बन्ध नहीं होता।

विशेष—(१) अपादानादि का विशेषण होने से 'कारक' यह संज्ञा तथा अधिकार दोनों रूपों में ग्राह्य है। (२) 'कारक' अन्वर्थक शब्द है।[1] आगे के सूत्रों में अनुवृत्ति जाने के लिए पाणिनि द्वारा प्रयुक्त सप्तम्यन्त पद 'कारके' को भाष्यकार ने 'प्रथमा' विभक्ति के अर्थ में प्रयुक्त माना है। अतः उनके मत में 'कारक' पद वाक्यभेद से प्रत्येक सूत्र में अन्वित होता है।

---

१. "कारके" इति महती संज्ञा क्रियते। संज्ञा च नाम यतो न लघीयः। कुत एतत्? लघ्वर्थं हि संज्ञाकरणम्। तत्र महत्याः संज्ञायाः करणे एतत् प्रयोजनम्। अन्वर्थसंज्ञा यथा विज्ञायेत—करोतीति कारकमिति"। महाभाष्यम्।